

जैन-आयुर्वेद : परम्परा और साहित्य

□ डॉ० राजेन्द्रप्रकाश भटनागर,

(प्राध्यापक, राजकीय आयुर्वेद महाविद्यालय, उदयपुर)

भारतीय संस्कृति में चिकित्सा का कार्य अत्यन्त महत्त्वपूर्ण और प्रतिष्ठित माना गया है, क्योंकि प्रसिद्ध आयुर्वेदीय ग्रन्थ 'चरकसंहिता' में लिखा है—'न हि जीवितदानाद्धि दानमन्यद्विशिष्यते' (च०चि०अ० १, पा०४, श्लोक ६१) अर्थात् जीवनदान से बढ़कर अन्य कोई दान नहीं है। चिकित्सा से कहीं धर्म, कहीं अर्थ (धन), कहीं मैत्री, कहीं यश और कहीं कार्य का अभ्यास ही प्राप्त होता है, अतः चिकित्सा कभी निष्फल नहीं होती—

क्वचिद्धर्मः क्वचिदर्थः क्वचिन्मैत्री क्वचिद्यशः ।

कर्माभ्यासः क्वचिच्चैव चिकित्सा नास्ति निष्फला ॥

अतएव प्रत्येक धर्म के आचार्यों और उपदेशकों ने चिकित्सा द्वारा लोकप्रभाव स्थापित करना उपयुक्त समझा। बौद्धधर्म के प्रवर्तक भगवान् बुद्ध को 'भैषज्यगुरु' का विशेषण प्राप्त था। इसी भांति जैन तीर्थंकरों और आचार्यों ने भी चिकित्साकार्य को धार्मिक शिक्षा और नित्य-नैमित्तिक कार्यों के साथ प्रधानता प्रदान की। धर्म के साधनभूत शरीर को स्वस्थ रखना और रोगी होने पर रोगमुक्त करना आवश्यक है। इसलिए जैन-परम्परा में तीर्थंकरों की भी वाणी के रूप में प्रोद्भासित आगमों और अंगों में वैद्यकविद्या को भी प्रतिष्ठापित किया गया है। अतः यह धर्मशास्त्र है। अद्यावधि प्रचलित 'उपाश्रया' (उपासरा) प्रणाली में जहाँ जैन यति-मुनि सामान्य विद्याओं की शिक्षा, धर्माचरण का उपदेश और परम्पराओं का मार्गदर्शन करते रहे हैं, वहीं वे उपाश्रयों को चिकित्सा-केन्द्रों के रूप में समाज में प्रतिष्ठापित करने में भी सफल हुए हैं।

प्राणावायु : जैन आयुर्वेद (चिकित्साविज्ञान)

आयुर्वेद शब्द 'आयु' और 'वेद'—इन दो शब्दों को मिलाकर बना है। आयु का अर्थ है—जीवन और वेद का ज्ञान। अर्थात् जीवन-प्राण या जीवित शरीर के सम्बन्ध में समग्र ज्ञान आयुर्वेद से अभिहित किया जाता है। जैन आगम साहित्य में चिकित्साविज्ञान को 'प्राणावायु' कहते हैं। यह पारिभाषिक संज्ञा है। जैन तीर्थंकरों की वाणी अर्थात् उपदेशों को १२ भागों में बाँटा गया है। इन्हें जैन आगम में 'द्वादशांग' कहते हैं। इन बारह अंगों में अन्तिम अंग 'दृष्टिवाद' कहलाता है।

'स्थानांग सूत्र' (स्थान ४, उद्देशक १) की 'वृत्ति' में कहा गया है कि दृष्टिवाद या दृष्टिपात में दृष्टियाँ अर्थात् दर्शनों और नयों का निरूपण किया जाता है—

'दृष्टयो दर्शनानि नया वा उच्यन्ते अभिधीयन्ते पतन्ति वा अवतरन्ति यत्रासौ दृष्टिवादो, दृष्टिपातो वा । प्रवचन पुरुषस्य द्वादशेऽङ्गो ।

'प्रवचनसारोद्धार' (द्वार १४४) में भी कहा है—जिसमें सम्यक्त्व आदि दृष्टियों—दर्शनों का विवेचन किया गया है, उसे दृष्टिवाद कहते हैं—



‘दृष्टिदर्शनं सम्यक्त्वादि, बदनं वादो, दृष्टीनां वादो दृष्टिवादः ।’

दृष्टिवाद के पाँच भेद हैं—१. पूर्वगत, २. सूत्र, ३. प्रथमानुयोग, ४. परिकर्म, ५. चूलिका । पूर्व चौदह हैं । इनमें से बारहवें पूर्व का नाम ‘प्राणावाय’ है । इस पूर्व में मनुष्य के आभ्यन्तर अर्थात् मानसिक और आध्यात्मिक तथा बाह्य अर्थात् शारीरिक स्वास्थ्य के उपायों, जैसे—यम, नियम, आहार, विहार और औषधियों का विवेचन है । साथ ही इसमें दैविक, भौतिक, आधिभौतिक जनपदोद्ध्वंसी रोगों की चिकित्सा का विस्तार से विचार किया गया है ।

आठवीं शताब्दी के दिगम्बर आचार्य अकलंकदेव कृत ‘तत्त्वार्थवार्तिक’ (राजवार्तिक) नामक ग्रन्थ में प्राणावाय की परिभाषा बताते हुए कहा गया है—

कायचिकित्साद्यष्टांग आयुर्वेदः भूतिकर्मजांगुलिकप्रक्रमः प्राणापानविभागोऽपि यत्र विस्तरेण वर्णितस्तत् प्राणावायम् । (अ० १, सू० २०)

अर्थात्—जिसमें कायचिकित्सा आदि आठ अंगों के रूप में सम्पूर्ण आयुर्वेद, भूतशान्ति के उपाय, विषचिकित्सा (जांगुलिप्रक्रम) और प्राण-अपान आदि वायुओं के शरीरधारण करने की दृष्टि से विभाजन का प्रतिपादन किया गया है, उसे प्राणावाय कहते हैं ।

आयुर्वेद के आठ अंगों के नाम हैं—कायचिकित्सा (मेडिसिन), शल्यतन्त्र (सर्जरी), शालाक्यतन्त्र (ईअर, नोज, थ्रोत—आपथेलमोलाजी) भूतविद्या, कौमार-भृत्य, अगदतन्त्र, रसायनतन्त्र और वाजीकरणतन्त्र । चिकित्सा के समस्त विषयों का समावेश इन आठों अंगों में हो जाता है ।

श्वेताम्बर मान्यतानुसार दृष्टिवाद के ‘प्राणायुपूर्व’ में आयु और प्राणों के भेद-प्रभेद का विस्तार से निरूपण था ।

दृष्टिवाद के इस ‘पूर्व’ की पद संख्या दिगम्बर मत में १३ करोड़ और श्वेताम्बर मत में १ करोड़ ५६ लाख थी ।

‘स्थानांगसूत्र’ (ठा० १०, सूत्र ७४२) में दृष्टिवाद के निम्न दस पर्याय बताये गये हैं—

दृष्टिवाद, हेतुवाद, भूतवाद, तथ्यवाद, सम्यग्वाद, धर्मवाद, भाषा-विषय या भाषाविजय, पूर्वगत, अनुयोगगत और सर्वप्राणभूतजीव-सत्त्वसुखावह ।

उपर्युक्त परिभाषा के अनुसार शरीरशास्त्र (Anatomy and Physiology) और चिकित्साशास्त्र—इन दोनों विषयों का वर्णन ‘प्राणावाय’ में मिलता है ।

निश्चय ही, बाह्यहेतु—शरीर को सबल और उपयोगी बनाकर आभ्यन्तर—आत्मसाधना व संयम के लिए जैन विद्वानों ने प्राणावाय (आयुर्वेद) का प्रतिपादन कर अकाल जरा-मृत्यु को दूरकर दीर्घ और सशक्त जीवन हेतु प्रयत्न किया है । क्योंकि धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—इन चारों पुद्गलार्थों की प्राप्ति के लिए शरीर का स्वस्थ रहना अनिवार्य है—‘धर्मार्थकाममोक्षाणामारोग्यं मूलमुत्तमम्’ ।

जैन-ग्रन्थ ‘मूलवार्तिक’ में आयुर्वेद-प्रणयन के सम्बन्ध में कहा गया है—‘आयुर्वेदप्रणयनान्यथानुपत्तेः’ । अर्थात् अकाल जरा (वार्धक्य) और मृत्यु को उचित उपायों द्वारा रोकने के लिए आयुर्वेद का प्रणयन किया गया है ।

मुनि, आर्यिका, श्रावक और श्राविका रूपी चतुर्विध संघ के लिए चिकित्सा उपादेय है । आगमों का अभ्यास, पठन-पाठन प्रारम्भ में जैन यति-मुनियों तक ही सीमित था । जैन धर्म के नियमों के अनुसार यति-मुनियों और आर्यिकाओं के रुग्ण होने पर वे श्रावक-श्राविका से अपनी चिकित्सा नहीं करा सकते थे । वे इसके लिए किसी से कुछ न तो कह सकते थे और न कुछ करा सकते थे । अतएव यह आवश्यक था कि वे अपनी चिकित्सा स्वयं ही करें अथवा अन्य यति-मुनि उनका उपचार करें । इसके लिए प्रत्येक यति-मुनि को चिकित्सा-विषयक ज्ञान प्राप्त करना जरूरी था । कालान्तर में जब लौकिक विद्याओं को यति-मुनियों द्वारा सीखना निषिद्ध माना जाने लगा तो दृष्टिवाद संज्ञक आगम, जिसमें

अनेक लौकिक विद्याएँ शामिल थीं, का पठन-पाठन-क्रम बन्द हो गया। शनैः-शनैः उसका लोप ही हो गया। यह परिस्थिति तीसरी-चौथी शती में आगमों के संस्करण और परिष्कार के लिए हुई 'माथुरी' और 'वाल्लभी' वाचनाओं से बहुत पहले ही हो चुकी थी। अतः इन वाचनाओं के काल तक दृष्टिवाद को छोड़कर अन्य एकादश आगमों पर तो विचार-विमर्श हुआ। पर 'दृष्टिवाद' की परम्परा सर्वथा लुप्त हो गयी अथवा विकलरूप में कहीं-कहीं प्रचलित रही।

सम्पूर्ण 'दृष्टिवाद' में धर्माचरण के नियम, दर्शन और नीति-सम्बन्धी विचार, विभिन्न कलाएँ, ज्योतिष, आयुर्वेद, शकुनशास्त्र, निमित्तशास्त्र, यन्त्र-तन्त्र आदि विज्ञानों और विषयों का समावेश होता है। दुर्भाग्य से अब दृष्टिवाद का कोई ग्रन्थ नहीं मिलता। बाद के साहित्य में उनका विकीर्णरूप से उल्लेख अवश्य मिलता है। महावीर-निर्वाण (ईसवीपूर्व ५२७) के लगभग १६० वर्ष बाद 'पूर्वों' सम्बन्धी ग्रन्थ क्रमशः नष्ट हो गये। सब पूर्वों का ज्ञान अन्तिम श्रुतकेवली भद्रबाहु को था। उनके १८१ वर्ष बाद हुए विशाखाचार्य से धर्मसेन तक दस 'पूर्वों' (अन्तिम चार पूर्वों को छोड़कर) का ज्ञान प्रचलित रहा। उसके बाद उनका ज्ञाता कोई आचार्य नहीं रहा। 'षट्खण्डागम' के वेदनानामक अध्याय के प्रारम्भिक सूत्र में दसपूर्वों और चौदहपूर्वों के ज्ञाता मुनियों को नमस्कार किया गया है। इस सूत्र की टीका में वीरसेनाचार्य ने स्पष्ट किया है कि पहले दस पूर्वों के ज्ञान से कुछ मुनियों को अनेक प्रकार की महा-विद्याएँ प्राप्त होती हैं, उससे सांसारिक लोभ और मोह उत्पन्न होता है और वे वीतरागी नहीं हो पाते। लोभ-मोह को जीतने से ही श्रुतज्ञान प्राप्त होता है। समस्त पूर्वों के उच्छिन्न होने के कारणों की मीमांसा करते हुए डा० हीरालाल जैन ने लिखा है—“ऐसा प्रतीत होता है कि अन्त के जिन पूर्वों में कलाओं, विद्याओं, यन्त्र-तन्त्रों व इन्द्रजालों का निरूपण था, वे सर्वप्रथम ही मुनियों के संयमरक्षा की दृष्टि से निषिद्ध हो गये। शेष पूर्वों के विच्छिन्न हो जाने का कारण यह प्रतीत होता है कि उनका जितना विषय जैन मुनियों के लिये उपयुक्त व आवश्यक था, उतना द्वादशांग के अन्य भागों में समाविष्ट कर लिया गया था, इसीलिये इन रचनाओं के पठन-पाठन में समय-शक्ति को लगाना उचित नहीं समझा गया गया।”^१

आगम-साहित्य में आयुर्वेदविषयक सामग्री

दिगम्बर परम्परा में आगमों को नष्ट हुआ माना जाता है, परन्तु श्वेताम्बर परम्परा में महावीर-निर्वाण के बाद १०वीं शताब्दी में हुई अन्तिम वाल्मी वाचना में पुस्तक रूप में लिखे गये ४५ ग्रन्थों को समय-समय पर भाषा व विषय सम्बन्धी संशोधन-परिवर्तन के होते रहने पर अब तक उपलब्ध माना जाता है।

आगम-साहित्य में प्रसंगवशात् आयुर्वेद-सम्बन्धी अनेक सन्दर्भ आये हैं। यहाँ उनका दिग्दर्शन मात्र कराया जायेगा।

‘स्थानांग सूत्र’ में आयुर्वेद या चिकित्सा (तेगिच्छ—चैकित्स्य) को नौ पापश्रुतों में गिना गया है।^२ ‘निशीथ-चूर्णि’ से ज्ञात होता है कि धन्वन्तरि इस शास्त्र के मूल-प्रवर्तक थे। उन्होंने अपने निरन्तर ज्ञान से रोगों की खोज कर वैद्यकशास्त्र या आयुर्वेद की रचना की। जिन लोगों ने इस शास्त्र का अध्ययन किया वे ‘महावैद्य’ कहलाये।^३

आयुर्वेद के आठ अंगों का भी उल्लेख इन आगम ग्रन्थों में मिलता है—कौमारभृत्य, शालाक्य, शाल्यहृत्य, कायचिकित्सा, जांगुल (विषनाशन), भूतविद्या, रसायन और वाजीकरण।^४ चिकित्सा के मुख्य चार पाद हैं—वैद्य, रोगी, औषधि और प्रतिचर्या (परिचर्या) करने वाला परिचारक।^५ सामान्यतः विद्या और मन्त्रों, कल्पचिकित्सा और

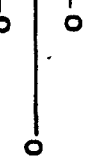
१. डॉ० हीरालाल जैन : भारतीय संस्कृति में जैन धर्म का योगदान, पृ० ५३.

२. स्थानांगसूत्र, ६. ६७८.

३. निशीथचूर्णि, पृ० ५१२.

४. (क) स्थानांगसूत्र, ८, पृ० ४०४ (ख) विपाक सूत्र, ७, पृ० ४१.

५. उत्तराध्ययन, २०. २३; सुखबोध, पत्र २६६.



वनौषधियों (जड़ी-बूटियों) से चिकित्सा की जाती थी और इसके आचार्य यज्ञ-तत्र मिल जाते थे।^१ चिकित्सा की अनेक पद्धतियाँ प्रचलित थीं। इनमें पंचकर्म, वमन, विरेचन आदि का भी विपुल प्रचलन था।^२ रसायनों का सेवन कराकर भी चिकित्सा की जाती थी।^३

चिकित्सक को प्राणाचार्य कहा जाता था।^४ पशुचिकित्सक भी हुआ करते थे।^५ निष्णात वैद्य को 'दृष्टपाठी' (प्रत्यक्षकर्माभ्यास द्वारा जिसने वास्तविक अध्ययन किया है) कहा गया है।^६

'निशीथचूर्ण' में उनके शास्त्रों का नामतः उल्लेख मिलता है।^७ तत्कालीन अनेक वैद्यों के नाम का भी उल्लेख आगम-ग्रन्थों में मिलता है। 'विपाकसूत्र' में विजयनगर के धन्वन्तरि नामक चिकित्सक का वर्णन है।^८

रोगों की उत्पत्ति वात, पित्त, कफ और सनिपात से बतायी गयी है।^९ रोग की उत्पत्ति के नौ कारण बताये गये हैं—अत्यन्त भोजन, अहितकर भोजन, अतिनिद्रा, अतिजागरण, पुरीष का निरोध, मूत्र का निरोध, मार्ग-गमन, भोजन की अनियमितता, काम विकार।^{१०} पुरीष के वेग को रोकने से मरण, मूत्र-वेग रोकने से दृष्टिहानि और वमन के वेग को रोकने से कुष्ठरोग की उत्पत्ति होती है।^{११}

'आचारांग सूत्र' में १६ रोगों का उल्लेख है—गंजी (गंडमाला), कुष्ठ, राजयक्ष्मा, अपस्मार, कार्णिय (काण्य, अक्षिरोग), झिमिय (जड़ता), कुणिय (हीनांगता), खुज्जिय (कुबड़ापन), उदररोग, मूकत्व, सूणीय (शोथ), गिलासणि (भस्मकरोग), वेवई (कम्पन), पीठसधि (पंगुत्व), सिलीवय (श्लीपद) और मधुमेह।^{१२}

इसी प्रकार आगम साहित्य में व्याधियों की औषधि-चिकित्सा और शल्यचिकित्सा का भी वर्णन मिलता है। सर्पकीट आदि के विषों की चिकित्सा भी वर्णित है। सुवर्ण को उत्तम विषनाशक माना गया है। गंडमाला, अर्श, भगंदर, व्रण, आघात या आगन्तुजव्रण आदि के शल्यकर्म और सीवन आदि का वर्णन भी है।

मानसिक रोगों और भूतावेश-जन्य रोगों में भौतिक चिकित्सा का भी उल्लेख मिलता है।

जैन आगम-ग्रन्थों में आरोग्यशालाओं (तेच्छियशाला = चिकित्साशाला) का उल्लेख मिलता है। वहाँ वेतन-भोगी चिकित्सक, परिचारक आदि रखे जाते थे।^{१३}

वास्तव में सम्पूर्ण जैन आगम साहित्य में उपलब्ध आयुर्वेदीय सन्दर्भों का संकलन और विश्लेषण किया जाना अपेक्षित है।

जैन-परम्परा

जैनधर्म के मूल प्रवर्तक तीर्थंकर माने जाते हैं। कालक्रम से ये चौबीस हुए—ऋषभ, अजित, सम्भव, अभिनंदन, सुमति, पद्मप्रभ, सुपाश्व, चंद्रप्रभ, पुष्पदंत, शीतल, श्रेयांस, वासुपूज्य, विमल, अनन्त, धर्म, शांति, कुन्धु, अरह, मल्लि, मुनिसुव्रत, नमि, नेमि, पार्श्वनाथ, वर्धमान या महावीर।

इनमें प्रथम तीर्थंकर ऋषभनाथ और अन्तिम महावीर हुए। महावीर का निर्वाण विक्रम संवत् से ४७० वर्ष पूर्व, शक संवत् से ६०५ वर्ष पाँच माह पूर्व तथा ईसवी सन् से ५२७ वर्ष पूर्व हुआ था। वर्तमान प्रचलित जैन धर्म की

१. उत्तराध्ययन, २०. २२; सुखबोध, पत्र २६६.

२. बृहद्वृत्ति, पत्र ११.

५. वही, पत्र ४६२.

७. निशीथचूर्ण, ११. ३४३६.

८. आवश्यकचूर्ण, पृ० ३८५.

११. बृहत्कल्पभाष्य, ३. ४३८०.

१३. ज्ञातृधर्मकथा, १३, पृ० १४३.

२. उत्तराध्ययन, १५. ८.

४. वही, पत्र ४७५.

६. निशीथचूर्ण, ७. १७५७.

८. विपाकसूत्र ७, पृ० ४९.

१०. स्थानांगसूत्र, ६. ६६७.

१२. आचारांगसूत्र, ६. १. १७३.

नीच महावीर के उपदेशों से पड़ी। उन्होंने जैनसंघ को चार भागों में बाँटा—मुनि, आर्यिका, श्रावक और श्राविका। पहले दोनों वर्ग घरबार छोड़कर परिव्राजक व्रत धारण करने वाले और शेष दोनों गृहस्थों के वर्ग हैं। इसे 'चतुर्विध-संघ' कहते हैं। परिव्राजकों और गृहस्थों के लिए अलग-अलग आचार-नियम स्थापित किये। ये नियम व व्यवस्थाएँ आज पर्यन्त जैन-समाज की प्रतिष्ठा को बनाये हुए हैं। महावीर के बाद गणधर व प्रतिगणधर हुए, उनके बाद श्रुतकेवली और उनके शिष्य-प्रशिष्य आचार्य हुए।

प्राणावाय के अवतरण की परम्परा

सामान्य जन-समाज तक प्राणावाय की परम्परा कैसे चली, इसका स्पष्ट वर्णन दिगम्बराचार्य उग्रादित्य के 'कल्याणकारक' नामक प्राणावायग्रन्थ के प्रस्तावना अंश में मिलता है। उसमें कहा गया है—

भगवान् आदिनाथ के समवसरण में उपस्थित होकर भरत चक्रवर्ती आदि भव्यों ने मानवों के व्याधिरूपी दुःखों का वर्णन कर उनसे छुटकारे का उपाय पूछा। इस पर भगवान् ने अपनी वाणी में उपदेश दिया। इस प्रकार प्राणावाय का ज्ञान तीर्थंकरों से गणधर, प्रतिगणधरों ने, उनसे श्रुतकेवलियों ने और उनसे बाद में होने वाले अन्य मुनियों ने क्रमशः प्राप्त किया।

जैनों द्वारा प्रतिपादित और मान्य आयुर्वेदावतरण (प्राणावायावतरण) की यह परम्परा आयुर्वेदीय चरक, सुश्रुत संहिताओं में प्राप्त परम्पराओं से सर्वथा भिन्न और नवीन है।

प्राणावाय की यह प्राचीन परम्परा मध्ययुग से पूर्व ही लुप्त हो चुकी थी। क्योंकि प्राणावाय के परम्परागत शास्त्रों के आधार पर या उनके साररूप में ई० आठवीं शताब्दी के अन्त में दक्षिण के आन्ध्र प्रान्त के प्राचीन चालुक्य-राज्य में दिगम्बराचार्य उग्रादित्य ने 'कल्याणकारक' नामक ग्रन्थ की रचना की थी। यही एक मात्र ऐसा ग्रन्थ मिलता है जिसमें प्राणावाय की प्राचीन परम्परा और शास्त्रग्रन्थों का परिचय प्राप्त होता है। इस काल के बाद किसी भी आचार्य या विद्वान् ने 'प्राणावाय' का उल्लेख अपने ग्रन्थ में नहीं किया। मध्ययुग में प्राणावाय परम्परा के लुप्त होने के अनेक कारण हो सकते हैं। प्रथम, चिकित्सा-शास्त्र एक लौकिक विद्या है। अपरिग्रहव्रत का पालन करने वाले जैन साधुओं और मुनियों के लिए इसका सीखना निष्प्रयोजन था, क्योंकि वे भ्रमणशील होने से एक स्थान से दूसरे स्थान पर विचरण करते रहते थे, श्रावक-श्राविकाओं की चिकित्सा करना उनके लिए निषिद्ध था, क्योंकि इससे मोह और परिग्रह-वृत्ति उत्पन्न होने की संभावना रहती है। मुनि या साधु केवल साधुवर्ग की चिकित्सा ही कर सकते थे। संयमशील साधुओं का जीवन वैसे ही प्रायशः नीरोग और दीर्घायु होता था। अतः साधुओं और मुनियों ने चिकित्सा कार्य को सीखना धीरे-धीरे त्याग दिया। परिणामस्वरूप जैन-परम्परा में प्राणावाय की परम्परा का क्रमशः लोप होता गया।

दक्षिण भारत में तो फिर भी ईसवीय आठवीं शताब्दी तक प्राणावाय के ग्रन्थ मिलते हैं। परन्तु उत्तरी भारत में तो वर्तमान में एक भी प्राणावाय का प्रतिपादक प्राचीन ग्रन्थ प्राप्त नहीं होता। इससे ज्ञात होता है कि यह परम्परा उत्तर में बहुत काल पहले ही लुप्त हो गई थी।

फिर, ईसवीय तेरहवीं शताब्दी से हमें जैन श्रावकों और यति-मुनियों द्वारा निर्मित आयुर्वेदीय ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं। ये ग्रन्थ प्राणावाय-परम्परा के नहीं कहे जा सकते, क्योंकि इनमें कहीं पर भी प्राणावाय का उल्लेख नहीं है। इनमें पाये जाने वाले रोगनिदान, लक्षण, चिकित्सा आदि का वर्णन आयुर्वेद के अन्य ग्रन्थों के समान है। ये ग्रन्थ संकलनात्मक और मौलिक—दोनों प्रकार के हैं। कुछ टीकाग्रन्थ हैं—जो प्राचीन आयुर्वेदीय ग्रन्थों पर देशीभाषा में या संस्कृत में लिखे गये हैं। कुछ ग्रन्थ पद्यमय भाषानुवाद मात्र हैं। वर्तमान में पाये जाने वाले अधिकांश ग्रन्थ इस प्रकार के हैं। जैनपरम्परा के अन्तर्गत श्वेताम्बरी साधुओं में यतियों और दिगम्बरी साधुओं में भट्टारकों के आविर्भाव के बाद इस प्रकार का साहित्य प्रकाश में आया। यतियों और भट्टारकों ने अन्य परम्परात्मक जैन साधुओं के विपरीत स्थान-विशेष में अपने निवास बनाकर, जिन्हें उपाश्रय (उपासरे) कहते हैं, लोकसमाज में चिकित्सा, तन्त्र-मन्त्र (झाड़ा-फूँकी) और ज्योतिषविद्या के बल पर प्रतिष्ठा प्राप्त की। जैन साधुओं में ऐसी परम्पराएँ प्रारम्भ होने के पीछे तत्कालीन



सामाजिक व्यवस्था कारणीभूत थी। भारतीय समाज में नाथों, शाक्तों आदि का प्रभाव लौकिक विद्याओं—चिकित्सा, रसायन, जादू-टोना, झाड़ा-फूँकी, ज्योतिष, तन्त्र-मन्त्र आदि के कारण विशेष बढ़ता जा रहा था। ऐसे समाज के सम्मुख अपने सम्मान और मान्यता को कायम रखने हेतु श्रावकों को प्रभावित करना आवश्यक था, जो इन लौकिक विज्ञानों और विद्याओं के माध्यम से अधिक सरल और स्पष्ट था। अतः सर्वप्रथम दिगम्बरमत में भट्टारकों की परम्परा स्थापित हुई, बाद में उसी के अनुसरण पर श्वेताम्बरों में यतियों की परम्परा प्रारम्भ हुई। इनके उपासके जहाँ श्रावकों के बच्चों को लौकिक-विद्याओं की शिक्षा और धर्मोपदेश देने के केन्द्र थे तो वहीं दूसरी ओर चिकित्सा, तन्त्र-मन्त्र और ज्योतिष आदि के स्थान भी थे। इन यतियों और भट्टारकों ने योग और तन्त्र-मन्त्र के बल पर अनेक सिद्धियाँ प्राप्त कर ली थीं, चिकित्सा और रसायन के अद्भुत चमत्कारों से जनसामान्य को चमत्कृत और आकर्षित किया था और ज्योतिष की महान् उपलब्धियाँ प्राप्त की थीं।

दक्षिण में भट्टारकों का प्रभाव विशेष परिलक्षित हुआ। इन्होंने रसायन के क्षेत्र में विशेष योग्यता प्राप्त की। कुछ अंश में प्राणावाय परम्परा के समय ८वीं शती तक ही रसायनचिकित्सा अर्थात् खनिज द्रव्यों और पारद के योग से निर्मित औषधियों द्वारा रोगनाशन के उपाय अधिक प्रचलित हुए। दक्षिण के सिद्धसम्प्रदाय में यह चिकित्सा विशेष रूप से प्रसिद्ध रही। दसवीं शताब्दी तक उत्तरी भारत के आयुर्वेदीय ग्रन्थों में धातुसम्बन्धी चिकित्साप्रयोग स्वल्प मिलते हैं, जबकि आठवीं शताब्दी के 'कल्याणकारक' नामक ग्रन्थ में ऐसे सैकड़ों प्रयोग उल्लिखित हैं, कुछ प्रयोग तो किन्हीं प्राचीन ग्रन्थों से उद्धृत किये गये हैं। कालान्तर में यह रसचिकित्सा सिद्धों और जैन भट्टारकों के माध्यम से उत्तरी भारत में भी प्रसारित हो गई और यहाँ भी रसग्रन्थ रचे जाने प्रारम्भ हो गये। वस्तुतः रसचिकित्सा-सम्बन्धी यह देन दक्षिणवासियों की है, इसमें बहुलांश जैन-विद्वानों का भाग है।

इस प्रकार प्राणावाय की परम्परा में अथवा बाद में अन्य कारणों से जैन यति-मुनियों, भट्टारकों और श्रावकों ने आयुर्वेद के विकास और आयुर्वेदीय ग्रन्थों की रचना में महान् योगदान किया। ये ग्रन्थ राजस्थान, पंजाब, गुजरात, महाराष्ट्र, कर्नाटक, मद्रास आदि के हस्तलिखित ग्रन्थागारों में भरे पड़े हैं। दुर्भाग्य से इनमें से अधिकांश ग्रन्थ अप्रकाशित हैं और कुछ तो अज्ञात भी हैं। इनमें से कुछ काल-कवलित भी हो चुके हैं।

जैन-वैद्यक-ग्रन्थ

जैन वैद्यक-ग्रन्थों के अपने सर्वेक्षण से मैं जिस निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ, उसके निम्न तीन पहलू हैं—

एक—जैन विद्वानों द्वारा निर्मित उपलब्ध वैद्यक साहित्य अधिकांश में मध्ययुग में (ई०सन् की १३ वीं शती से १६ वीं शती तक) रचे गये थे। कुछ ग्रन्थ दक्षिण में ७-८वीं शती के भी, दक्षिण के आन्ध्र और कर्नाटक क्षेत्रों में मिलते हैं, जैसे—कल्याणकारक आदि। परन्तु ये बहुत कम हैं।

द्वितीय—उपलब्ध सम्पूर्ण वैद्यक-साहित्य में जैनों द्वारा निर्मित साहित्य उसके एक-तिहाई से भी अधिक है।

तृतीय—अधिकांश जैन वैद्यकग्रन्थों का प्रणयन पश्चिमी भारत में, जैसे—पंजाब, राजस्थान, गुजरात, कच्छ, सौराष्ट्र और कर्नाटक में हुआ है। कुछ माने में राजस्थान को इस सन्दर्भ में अग्रणी होने का गौरव और श्रेय प्राप्त है। राजस्थान में निर्मित अनेक जैन-वैद्यकग्रन्थों, जैसे वैद्यवल्लभ (हस्तिरुचि गणि कृत), योगचिन्तामणि (हर्षकीर्तिसूरिकृत) आदि का वैद्य-जगत् में बाहुल्येन प्रचार-प्रसार और व्यवहार पाया जाता है।

इनमें से अधिकांश ग्रन्थ मध्ययुगीन प्रादेशिक भाषाओं जैसे पंजाबी, राजस्थानी, गुजराती, कर्नाटकी (कन्नड़) में तथा संस्कृत में प्राप्त हैं।

जैन विद्वानों द्वारा मुख्यतया निम्न तीन प्रकार से वैद्यकग्रन्थों का प्रणयन हुआ—

१. जैन यति-मुनियों द्वारा ऐच्छिक रूप से ग्रन्थ-प्रणयन।
२. जैन यति-मुनियों द्वारा किसी राजा अथवा समाज के प्रतिष्ठित और धनी श्रेष्ठी पुरुष की प्रेरणा या आज्ञा से ग्रन्थ-प्रणयन।

३. स्वतन्त्र जैन श्रावक विद्वानों और चिकित्सकों द्वारा ग्रन्थ-प्रणयन ।

निम्न पंक्तियों में भारतवर्ष के कुछ प्रसिद्ध जैन वैद्यक-मनीषियों और उनके ग्रन्थों का परिचय दिया जा रहा है—

यहाँ प्रारम्भ कर्णाटक के जैन आयुर्वेद साहित्य के वर्णन से करेंगे, क्योंकि उपलब्ध जैन आयुर्वेद ग्रन्थों में प्राचीनतम ग्रन्थ में वहीं पर उपलब्ध हैं ।

‘कल्याणकारक नामक प्राणावाय’ ग्रन्थ ईसवीय आठवीं शताब्दी के अन्त का मिलता है । उसमें इस परम्परा के प्राचीन विद्वानों और उनके ग्रन्थों का उल्लेख है—“पूज्यपाद ने शालाक्य पर, पात्रस्वामी ने शल्यतन्त्र पर, सिद्धसेन ने विष और उग्र ग्रह शमनविधि सम्बन्धी, दशरथगुरु ने कायचिकित्सा पर, मेघनाद ने बालरोगों पर, सिंहनाद ने वाजीकरण और रसायन पर वैद्यक ग्रन्थों की रचना की थी ।” (कल्याणकारक, परिच्छेद २०, श्लोक ८५) ।

कल्याणकारक में यह भी कहा गया है कि “समन्तभद्र ने विस्तारपूर्वक आयुर्वेद के आठों अंगों पर जो कहा था, संक्षेप में मैं (उग्रादित्य) ने अपनी शक्ति के अनुसार यहाँ (इस ग्रन्थ में) पूर्णरूप से कहा है ।” (क० का०, परिच्छेद २०, श्लोक ८६) ।

उपर्युक्त विवरण से ज्ञात होता है कि उग्रादित्य के कल्याणकारक ग्रन्थ की रचना से पूर्व दक्षिण में (विशेषकर कर्णाटक में, जैसा कि हम आगे चलकर देखेंगे उक्त सभी वैद्यक विद्वान् कर्णाटक के ही थे) जैन प्राणावाय-आगम के विद्वानों की एक सुदीर्घ परम्परा रही थी और उनके द्वारा विभिन्न ग्रन्थ भी रचे गये थे । दुर्भाग्य से अब इनमें से कोई ग्रन्थ नहीं मिलता । केवल उग्रादित्याचार्य का कल्याणकारक उपलब्ध है । यह संस्कृत में है और सोलापुर से हिन्दी अनुवाद सहित प्रकाशित भी हो चुका है ।

समन्तभद्र का काल ई० ३ से ४थी, शताब्दी माना जाता है । वर्तमान में इनका वैद्यक ग्रन्थ नहीं मिलता । “पुष्प आयुर्वेद” नामक कोई ग्रन्थ इनके नाम से कर्णाटक मिलता है, परन्तु वह सन्दिग्ध है । उग्रादित्य ने इनके अष्टांगसम्बन्धी विस्तृत ग्रन्थ का उल्लेख किया है ।

पूज्यपाद—इनका काल ५वीं शताब्दी है । इनका प्रारम्भिक नाम देवनन्दि था, परन्तु बाद में बुद्धि की महत्ता के कारण यह जिनेन्द्रबुद्धि कहलाये तथा देवों ने जब इनके चरणों की पूजा की, तब से यह ‘पूज्यपाद’ कहलाने लगे । मानवजाति के हित के लिए इन्होंने वैद्यकशास्त्र की रचना की थी । यह ग्रन्थ अप्राप्य है । कल्याणकारक में अनेक स्थानों पर ‘पूज्यपादेन भाषितः’ ऐसा कहा गया है । आन्ध्र प्रदेश में रचित १५वीं शताब्दी के ‘वसवराजीय’ नामक ग्रन्थ में पूज्यपाद के अनेक योगों का उल्लेख मिलता है । पूज्यपाद के अधिकांश योग धातु-चिकित्सा सम्बन्धी हैं । इनका ग्रन्थ ‘पूज्यपादीय’ कहलाता था । यह संस्कृत में रहा होगा । कर्णाटक में पूज्यपाद का एक कन्नड़ में लिखित पद्यमय वैद्यक ग्रन्थ मिलता है । ‘वैद्यसार’ नामक ग्रन्थ भी पूज्यपाद का लिखा बताया जाता है, जो जैन-सिद्धान्त-भास्कर में प्रकाशित हो चुका है, परन्तु ये दोनों ही ग्रन्थ वस्तुतः पूज्यपाद के नहीं हैं ।

आठवीं शताब्दी के अन्त में दिगम्बराचार्य उग्रादित्य ने ‘कल्याणकारक’ नामक अष्टांग ग्रन्थ की संस्कृत में रचना की थी । यह रामगिरि (वर्तमान विशाखापट्टन जिले में है) के निवासी थे । परन्तु राजनैतिक उथल-पुथल से इन्हें बाद में ९वीं शती के प्रारम्भ में राष्ट्रकूट राजा नृपतुंग अमोघवर्ष प्रथम के राज्य में आश्रय लेना पड़ा । नृपतुंग के दरबार में उपस्थित होकर उन्होंने मांसनिषेध पर एक विस्तृत भाषण दिया था, जो कल्याणकारक ग्रन्थ के अन्त में ‘हिताहित’ अध्याय के रूप में सम्मिलित किया गया है ।

संस्कृत ग्रन्थों के अतिरिक्त कन्नड़ भाषा में भी ग्रन्थ रचे गये । जैन मंग(ल)राज ने स्थावर विष की चिकित्सा पर ‘खगेन्द्रमणिदर्पण’ नामक एक बड़ा ग्रन्थ लिखा था । यह प्रारम्भिक विजयनगर साम्राज्य काल में राजा हरिहरराज के समय में विद्यमान था । इनका काल ई० सन् १३६० के आसपास माना जाता है ।



देवेन्द्रमुनि ने बालचिकित्सा पर ग्रन्थ लिखा था। श्रीशरदेव (१५०० ई०) ने 'वैद्यामृत' की रचना की थी। इसमें २४ अधिकार हैं। बाचरस (१५०० ई०) ने 'अश्ववैद्यक' की रचना की। इसमें अश्वों की चिकित्सा का वर्णन है। पद्मरस या पद्मण पण्डित ने १६२७ ई० में 'हृत्सारसमुच्चय' (अश्वशास्त्र) नामक ग्रन्थ की रचना की थी। इसमें घोड़ों की चिकित्सा बतायी गई है। रामचन्द्र और चन्द्रराज ने अश्ववैद्यक, कीर्तिमान ने गोचिकित्सा, वीरभद्र ने पालकाष्प के हस्त्यायुर्वेद की कन्नड़ टीका, अमृतनन्दि ने वैद्यकनिघण्टु नामक शब्दकोश, साहब ने रसरत्नाकर और वैद्यसांगत्य, जगदेव ने महामन्त्रवादि नामक ग्रन्थ की रचना की थी।

तमिल आदि भाषाओं में जैन वैद्यक ग्रन्थों का संकलन नहीं हो पाया है। कर्णाटक के प्राचीनतम साहित्य के बाद गुजरात का अनुक्रम प्राप्त होता है। सौराष्ट्र के डंकगिरि (धन्वुका) में पादलिप्ताचार्यसूरि का निवास था। इनका काल ३ से ४थी शती माना जाता है। इन्होंने रसायनविद्या में सिद्धि प्राप्त थी। इनके शिष्य नागार्जुन हुए। इन्होंने ही वलभी में एक मुनि-सम्मेलन बुलाकर आगमों का पाठ संकलित कराया था। ये ही आगमग्रन्थ आज तक प्रचलित हैं। इनको भी रसायनसिद्धि प्राप्त थी। इनको उत्तरीभारत में रसायनविद्या का प्रारम्भ और उत्कर्ष किये जाने का तथा रसायनचिकित्सा का प्रचलन करने का श्रेय प्राप्त है।

पण्डित गुणाकरसूरि नामक श्वेताम्बर साधु ने नागार्जुन द्वारा विरचित 'आश्वर्षयोगमाला' पर सं० १२१६ (ई० सन् ११५६) में संस्कृत टीका-वृत्ति लिखी थी।

ई० सन् १६६६ के लगभग तपागच्छीय साधु हर्षकीर्तिसूरि ने 'योगवितामणि' नामक प्रसिद्ध चिकित्साग्रन्थ की रचना की थी। इसमें योगों का संग्रह है। इसमें फिरंगरोग और कमावकीती का उल्लेख मिलता है।

तपागच्छीय कनक के शिष्य नर्बुदाचार्य या नर्मदाचार्य ने संवत् १६५६ में 'कोककला चौपई' नामक कोकशास्त्र (कामशास्त्र) पर गुजराती में पद्यबद्ध ग्रन्थ लिखा था।

श्रीकण्ठसूरि नामक जैन आचार्य ने 'हितोपदेश' नामक पथ्यापथ्य सम्बन्धी ग्रन्थ लिखा है। मेस्तुंग नामक जैन साधु ने ई० १३८६ में एक प्राचीन रसग्रन्थ 'कंकालीयरसाध्याय' पर संस्कृत टीका लिखी थी। माणिक्यचन्द्र जैन ने 'रसावतार' नामक रसग्रन्थ की रचना की। नयनशेखर अंबलगच्छीय पालीनाणा शाखा के वैद्यकविद्या में निष्णात मुनि थे। इन्होंने संवत् १७३६ में 'योगरत्नाकरचौपई' नामक गुजराती चौपई पद्यों में लिखित वैद्यकग्रन्थ की रचना की थी। यह बहुत बड़ा और उपयोगी ग्रन्थ है। केतराज के पुत्र श्रावक नयनगुह ने संवत् १६४६ में 'वैद्यमतोत्सव' नामक प्रसिद्ध ग्रन्थ की रचना की थी। तपागच्छीय लक्ष्मीकुशल ने संवत् १६६४ में 'वैद्यकसाररत्न-प्रकाश' नामक ग्रन्थ ईडर के पास ओडा नामक ग्राम में रचा था। कच्छक्षेत्र के अन्तर्गत अंजार नगर के निवासी आगमगच्छ के साधु कवि विश्राम ने विषोपविष-शान्ति, धातुशोधनकारण और रोगानुपान के सम्बन्ध में संवत् १८४२ में 'अनुपान-मंजरी' और व्याधियों की चिकित्सा पर संवत् १८३८ में 'व्याधिनिग्रह' नामक ग्रन्थ की रचना की।

राजस्थान में सबसे अधिक वैद्यक ग्रन्थों का प्रणयन हुआ था। पण्डित आशाधर नामक जैन श्रावक ने ई० १२४० के लगभग अष्टांग हृदय पर उद्योतिनी नामक संस्कृत टीका लिखी थी। यह सपादलक्षेत्र के मांडलगढ़ जिला भीलवाड़ा राजस्थान के निवासी थे, जो बाद में मुहम्मद गोरी के अजमेर पर आधिपत्य कर लेने पर मुस्लिम आक्रमणों में त्रस्त होकर मालवा के शासक विध्यवर्मा की धारानगरी में रहने लगे थे। बाद ये नालछा में बस गये। इनका यह टीकाग्रन्थ अब उपलब्ध नहीं है। पीटर्सन ने अपनी सूची में इसका उल्लेख किया है। सम्भवतः खरतरगच्छीय वर्द्धमान सूरि के शिष्य हंसराज मुनि ने १७वीं शती में 'भिवक्कचित्तोत्सव' नामक रोगानिदान सम्बन्धी संस्कृत में श्लोकात्मक ग्रन्थ लिखा था। इसे 'हंसराजनिदानम्' भी कहते हैं। कुण्डवैद्य के पुत्र महेन्द्र जैन ने वि० सं० १७०६ में धन्वन्तरिनिघण्टु के आधार पर उदयपुर में 'द्रव्यावली समुच्चय' ग्रन्थ की रचना की थी। यह द्रव्यगुणशास्त्र सम्बन्धी ग्रन्थ है। तपागच्छीय हस्तिरुचिगणि ने सं० १७२६ में संस्कृत में 'वैद्यवल्लभ' नामक रोगचिकित्सा सम्बन्धी ग्रन्थ रचा

था। इसमें ज्वर, स्त्रीरोग, कासक्षयादिरोग, धातुरोग, अतिसारादि रोग, कुष्ठादिरोग, शिरःकर्णाक्षिरोग के प्रतिकार तथा स्तम्भन विषयक कुल ८ अध्याय हैं। मेघभट्ट ने सं० १७२६ में इस पर संस्कृत टीका लिखी थी।

खरतरगच्छीय जिनचन्द्र की परम्परा में वाचक सुमतिमेरु के भ्रातृ पाठक विनयमेरुगणि ने १८वीं शती में 'विद्वन्मुखमण्डनसारसंग्रह' नामक योगसंग्रह ग्रन्थ लिखा था। इसमें रोगों की चिकित्सा दी गई है। इनके शिष्य मुनि मानजी के राजस्थानी में लिखे हुए 'कविप्रमोद', 'कविविनोद' आदि वैद्यकग्रन्थ मिलते हैं। यह बीकानेर क्षेत्र के निवासी थे।

बीकानेर के निवासी और धर्मशील के शिष्य रामलाल महोपाध्याय ने 'रामनिदानम्' या 'रामऋद्धिसार' नामक छोटे से ग्रन्थ की संस्कृत में रचना की थी। इसमें संक्षेप में सब रोगों के निदान का वर्णन है। इसकी कुल श्लोक संख्या ७१२ है।

खरतरगच्छीय मुनि दयातिलक के शिष्य दीपकचन्द्र वाचक ने जयपुर में महाराजा जयसिंह के शासनकाल में 'लघनपथ्यनिर्णय' नामक पथ्यापथ्य सम्बन्धी ग्रन्थ की रचना की थी। इसका रचनाकाल सं० १७६२ है। बाद में इस ग्रन्थ का संशोधन शंकर नामक ब्राह्मण ने संवत् १८८५ में किया था।

संस्कृत में रचित उपर्युक्त वैद्यक ग्रन्थों के अतिरिक्त राजस्थानी भाषा में भी जैन विद्वानों ने कई वैद्यक ग्रन्थ रचे थे।

खरतरगच्छीय यति रामचन्द्र ने वैद्यक सम्बन्धी 'रामविनोद' (रचनाकाल सं० १७२०) तथा 'वैद्यविनोद' (रचनाकाल सं० १७२६) नामक ग्रन्थों की रचना की थी। यह औरंगजेब के शासनकाल में मौजूद थे। ये दोनों ग्रन्थ चिकित्सा पर हैं। 'वैद्यविनोद' ग्रन्थ शाङ्गधरसंहिता का पद्यमय भाषानुवाद है। इनके 'नाड़ीपरीक्षा' और 'मान-परिमाण' नामक ग्रन्थ भी मिलते हैं, जो वास्तव में 'रामविनोद' के ही अंश हैं।

श्वेताम्बरी बेगड़ गच्छ के आचार्य जिनसमुद्रसूरि ने 'वैद्यचिन्तामणि' नामक ग्रन्थ १७वीं शती में लिखा था। इस ग्रन्थ के अन्य नाम 'वैद्यकसारोद्धार', 'समुद्रसिद्धान्त' और 'समुद्रप्रकाशसिद्धान्त' भी मिलते हैं। इसमें रोगों के निदान और चिकित्सा का पद्यों में संग्रह है।

बीकानेर के खरतरगच्छीय धर्मसी या धर्मवर्द्धन की 'डंभक्रिया' नामक २१ पद्यों में छोटी सी रचना मिलती है। इसका रचनाकाल सं० १७४० दिया गया है। इसमें विभिन्न रोगों में अग्निकर्म-चिकित्सा का वर्णन है।

खरतरगच्छीय शाखा के उपाध्याय लक्ष्मीकीर्ति के शिष्य लक्ष्मीवल्लभ ने शम्भुनाथकृत संस्कृत के 'कालज्ञानम्' का संवत् १४७१ में पद्यमय भाषानुवाद किया था। इनकी दूसरी कृति 'सूत्रपरीक्षा' नामक है जो अतिसंधिप्त, केवल ३७ पद्यों में मिलती है। इसका रचनाकाल सं० १७५१ है। लक्ष्मीवल्लभ बीकानेर के रहने वाले थे।

विनयमेरुगणि के शिष्य मुनिमान की राजस्थानी पद्यों में लिखित दो वैद्यक रचनाएँ मिलती हैं—'कवि-विनोद' और 'कविप्रमोद'। 'कविविनोद' में रोगों के निदान और औषधि का वर्णन है। इसमें दो खण्ड हैं—प्रथम में कल्पनाएँ हैं और दूसरे में चिकित्सा दी गई है। इसका रचनाकाल सं० १७४५ है। 'कविप्रमोद' बहुत बड़ी कृति है। इसका रचनाकाल सं० १७४६ है। यह कवित्त और दोहा छन्दों में है। इसमें वाग्भट, सुश्रुत, चरक आदि ग्रन्थों का सार संकलित है।

बीकानेर के निवासी तथा महाराज अनूपसिंह के राज्याश्रित व सम्मानित श्वेताम्बर जैन जोसीराम मथेन के पुत्र जोगीदास (अन्य नाम 'दासकवि') ने महाराजकुंवर जोरावरसिंह की आज्ञा से सं० १७६२ में 'वैद्यकसार' नामक चिकित्साग्रन्थ की रचना की थी।

श्वेताम्बर खरतरगच्छीय मतिरत्न के शिष्य समरथ ने सं० १७५५ के लगभग शालिनाथ (वैद्यनाथ के पुत्र) द्वारा प्रणीत संस्कृत 'रसमंजरी' नामक रस ग्रन्थ पर पद्यमय भाषाटीका लिखी थी।



जयपुर के दीपकचन्द्र वाचक ने कल्याणदास की संस्कृत रचना 'बालतन्त्र' पर 'बालतन्त्रभाषावचनिका' नामक राजस्थानी गद्य में टीका लिखी थी। दीपकचन्द्र वाचक की संस्कृत रचना 'लघनपथ्यनिर्णय' का ऊपर उल्लेख किया जा चुका है।

खरतरगच्छीय जिनदत्तसूरि शाखा के लाभनिधान के शिष्य चैनमुखयति ने वैद्यक पर दो ग्रन्थ राजस्थानी में लिखे थे। प्रथम—त्रोपदेवकृत शतश्लोकी की राजस्थानी गद्य में 'सतश्लोकी भाषा टीका' सं० १८२० में तथा द्वितीय जोलिम्बराज के सुप्रसिद्ध ग्रन्थ वैद्यजीवन पर 'वैद्यजीवनटिबा'। चैनमुखयति फतेहपुर (सीकर, शेवावाटी) के निवासी थे।

मलूकचन्द नामक जैन श्रावक ने यूनानी चिकित्साशास्त्र के प्रसिद्ध ग्रन्थ तिब्व सहाबी का भाषा में पद्यमय अनुवाद 'वैद्यहुलास' (तिब्व सहाबीभाषा) नाम से किया था। यह बीकानेर क्षेत्र के निवासी थे। श्री अगरचन्द नाहटा ने इनका समय १९वीं शताब्दी माना है।

पंजाब के किसी बहुत प्राचीन वैद्यकग्रन्थ का मुझे उल्लेख प्राप्त नहीं हुआ। सं० १८१८ में जालन्धर जिले के फगवाडानगर में मेघमुनि ने पुरानी हिन्दी के दोहे-चौपाइयों में 'मेघविनोद' नामक एक बहुत उपयोगी ग्रन्थ की रचना की थी। इसमें चिकित्सोपयोगी सब बातों का एक साथ संग्रह है। साथ ही कतिपय नवीन रोगों का वर्णन भी किया है। महाराजा रणजीतसिंह के शासनकाल में गंगाराम नामक जैनयति ने सं० १८७८ में अमृतसर में 'गंगयतिनिदान' नामक ग्रन्थ का निर्माण किया था। इसमें ज्वर, अतिसार आदि रोगों के निदान, लक्षण आदि का सुन्दर विवेचन है। इन दोनों ग्रन्थों का हिन्दीभाषाभाष्य कर कविराज नरेन्द्रनाथ शास्त्री ने लाहौर से प्रकाशित कराया था।

समीक्षा

जैन परम्परा में रचित आयुर्वेद साहित्य की खोज करते हुए मुझे जिन हस्तलिखित, प्रकाशित और अप्रकाशित ग्रन्थों का परिचय प्राप्त हुआ उनमें से कुछ के सम्बन्ध में संक्षेप में ऊपर कहा गया है। इन वैद्यक ग्रन्थों में वर्णित विषय का विश्लेषण करने पर जो विशेषताएँ दृष्टिगोचर होती हैं, वे निम्न हैं—

१. अहिंसावादी जैनों ने शवच्छेदन प्रणाली और शल्यचिकित्सा को हिंसक-कार्य मानकर चिकित्सा क्षेत्र में उन्हें अप्रचलित कर दिया। परिणामस्वरूप शरीर सम्बन्धी ज्ञान शनैः-शनैः क्षीण होता गया और शल्यचिकित्सा छूटती गयी।

२. जहाँ एक ओर जैन विद्वानों ने शल्यचिकित्सा का निषेध किया, वहाँ दूसरी ओर उन्होंने रसयोगों और सिद्धयोगों का बाहुल्येन उपयोग प्रारम्भ किया। एक समय ऐसा आया कि जब सब रोगों की चिकित्सा सिद्धयोगों द्वारा ही की जाने लगी, जैसा कि आजकल ऐलोपैथिक चिकित्सा में सब रोगों के लिए पेटेन्ट योग प्रयुक्त किये जा रहे हैं। नवीन सिद्धयोग और रसयोग (पारद और धातुओं से निर्मित योग) भी प्रचलित हुए। ये सिद्धयोग स्वानुभूत और प्रायोगिक प्रत्यक्षीकृत थे।

३. भारतीय वैद्यकशास्त्र की परम्पराओं के आधार पर रोग निदान के लिए नाड़ी-परीक्षा, मूत्र-परीक्षा आदि को जैन विद्वानों ने विशेष मान्यता प्रदान की, यह उनके द्वारा इन विषयों पर रचित अनेक ग्रन्थों से ज्ञात होता है।

४. जैन विद्वानों ने अपने धार्मिक सिद्धान्तों के आधार पर ही मुख्य रूप से चिकित्साशास्त्र का प्रतिपादन किया है। जैसे—अहिंसा के आदर्श पर उन्होंने मद्य, मांस और मधु के प्रयोग का सर्वथा निषेध किया है, क्योंकि इसमें प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से अनेक प्राणियों की हिंसा होती है। इस अहिंसा का आपत्काल में भी पूर्ण विचार रखा गया है। 'कल्याणकारक' में तो मांसभक्षण के निषेध की युक्तियुक्त विस्तृत विवेचना की गई है।

५. चिकित्सा में उन्होंने वनस्पति, खनिज, क्षार, लवण, रत्न, उपरत्न, आदि का विशेष उपयोग बताया है। इस प्रकार केवल वानस्पतिक और खनिज द्रव्यों से निर्मित योगों का जैन विद्वानों द्वारा चिकित्सा-कार्य में विशेष प्रचलन किया गया। यह आज भी सामान्य वैद्यजगत् में परिलक्षित होता है।

६. शरीर को स्वस्थ, हृष्टपुष्ट और नीरोग रखकर केवल ऐहिक सुख भोगना ही अन्तिम लक्ष्य नहीं है, अपितु शारीरिक स्वास्थ्य के माध्यम से आत्मिक स्वास्थ्य व सुख प्राप्त करना ही जैनाचार्यों को अभिप्रेत था। इसके लिए उन्होंने भक्ष्याभक्ष्य, सेव्यासेव्य आदि पदार्थों का उपदेश दिया है।

७. जैन वैद्यकग्रन्थ, अधिक संख्या में प्रादेशिक भाषाओं में उपलब्ध हैं। फिर भी, संस्कृत में रचित जैन वैद्यक ग्रन्थों की संख्या न्यून नहीं है। अनेक जैन वैद्यों के चिकित्सा और योगों सम्बन्धी गुटके (परम्परागत नुसखों के संग्रह, जिन्हें 'आम्नायग्रन्थ' कहते हैं) भी मिलते हैं, जिनका अनुभूत प्रयोगावली के रूप में अवश्य ही बहुत महत्त्व है।

जैन आगम साहित्य में आयुर्वेद सम्बन्धी वर्णन भी प्राप्त होते हैं, उन पर स्वतन्त्र रूप से विस्तार से अध्ययन किया जाना अपेक्षित है।

इस प्रकार जैन विद्वानों द्वारा आयुर्वेद सम्बन्धी जो रचनाएँ निम्नित की गई हैं, उन पर संक्षेप में ऊपर प्रकाश डाला गया है।

संक्षेप में, जैन विद्वानों और यति-मुनियों द्वारा जनसमाज में चिकित्सा-कार्य और वैद्यक ग्रन्थ प्रणयन द्वारा तथा अनेक उदारमना जैन श्रेष्ठियों द्वारा धर्मार्थ (निःशुल्क) चिकित्सालय और भौषधालय या पुष्पशालाएँ स्थापित किये जाने से भारतीय समाज को सहयोग प्राप्त होता रहा है। निश्चित ही, यह देन सांस्कृतिक और वैज्ञानिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण कही जा सकती है।

□

विर्गहितं साधुजनैः समस्तैर्घोरापराधं हि मृषाप्रवादं ।

अन्तर्दरिद्रं नितरामभद्रं, समाद्रियन्ते न कदापि सन्तः ॥

—वर्द्धमान शिक्षा सप्तशती

(चन्दनमुनि रचित)

असत्य भाषण सभी सत्पुरुषों द्वारा निन्दित है, घोर अपराध है, उसमें दारिद्र्य—दैन्य अन्तर्निहित है, वह अत्यन्त अभद्र है। उत्तम पुरुष उसे कभी नहीं अपनाते ।

